उजली कविता का एक संकलन

किसी पुस्तक के विषय में कुछ लिखना आसान नहीं होता—और विशेषकर कविता संग्रह के लिए कुछ लिखना तो सचमुच ही कठिन होता है। कविता की परख और उसकी पसंदगी-नापसंदगी हर एक पाठक की प्रायः अलग-अलग होती है। जहाँ तक मेरी समझ है, मैं प्रारंभ से ही सहज एवं संस्कारमय कविता का प्रेमी रहा हूँ और आज भी ऐसा ही हूँ। छंदमय कविता की ध्वनि अलग है, छंद से इतर यानी मुक्तछंद की रचना का रस-रंग अपने ढंग का अलग होता है। 'लय' दोनों तरह की कविताओं के लिए अनिवार्य है, मगर मुक्तछंद में कविता का यह तत्त्व एक जादुई बिंदु के आकारहीन आनंद जैसा है। श्री 'निराला', श्री प्रसाद और बच्चनजी का मुक्तछंद मुझे ऐसा ही लगा। उनकी इस विधा की कविता सस्वर भी पढ़ी जा सकती है। इसके बाद श्री धर्मवीर भारती और श्री विजयदेव नारायण साही की छंदमुक्त रचनाएँ 'लय' की सफलता के सोपान पर पहुँची लगीं।

इस पृष्ठभूमि में जब मुझे 'संस्पर्श' कविता संग्रह की कविताएँ पढ़ने का अवसर मिला तो लगा जैसे इस संकलन की कविताओं में सहजता के साथ-साथ 'लय' की अनुगूँज भी उजागर हुई है। अधिकांश कविताएँ अपनी अभिव्यक्ति और अर्थ-सामर्थ्य की दृष्टि से मुझे एक पूर्ण कविता का स्वाद दे सकने में समर्थ लगीं। कविता का ऐसा रंग आसानी से नहीं मिलता। इस दृष्टि से मैं 'संस्पर्श' के कवि डॉ. अरुण वीर सिंह को बधाई देता हूँ। कुछ अपने को ही पाने की ललक लगता है, पाठक को भी ललचाएगी।

'तुम्हें निरंतरता में
नहीं ढूँढ़ना चाहता
क्योंकि मुझे, तुम्हें
अपने में ढूँढ़ने की
आदत पड़ गई है।'

कवि ने 'जीन' के विकासवाद जैसे यथार्थ को अपनी 'नव-विकासवाद' शीर्षक कविता में उकेरा है। कविता के विकास में ऐसे यथार्थ को विकसित होते देख एक दुर्लभ आनंद की अनुभूति होती है। 'आदमी की परिभाषा' शीर्षक रचना एक दूसरे तरह का यथार्थ रखती है। कवि ने इस यथार्थ का अनुभव दिल्ली महानगर में किया है।

'एक आदमी की तरह
पूरी जिंदगी जिया
लाशों की भीड़ में
संगमरमरी दिल्ली की भीड़ में
आज आदमी की परिभाषा
ढूँढ़ने निकला है, रेगिस्तान की धरती पर
अपने साये में अर्थ ढूँढ़ना चाहता है
एक-एक काँटा नागफनी-सा चुभ रहा है
वह आदमी की तरह महसूस कर रहा है।'

दिल्ली महानगर का हर सुधी निवासी दिल्ली के संगमरमरी रेगिस्तान में प्रतिदिन इस कड़वाहट का स्वाद पाता है। दिल्ली महानगर के इस भयावह यथार्थ के बीच कवि अपनी वेदना के प्रति सजग है। सच पूछिए तो वेदना ही निजी है। यही हमारे साथ चलकर हमें आनंद-द्वार तक पहुँचाती है।

'एक क्षण की वेदना को
बरसों जिया मैंने
दृष्टि से तृप्ति तक की

चेतना को बरसों जिया मैंने।'

कवि की ऐसी चैतन्य वेदना के सामने मैं नत हूँ। चाहूँगा कि कवि में यह चेतना सदा-सदा जाग्रत रहे। 'संस्पर्श' के कवि का भविष्य निश्चय ही एक नए सूर्योदय का गवाह होगा। मुझे यकीन है कि कविता के पाठक और चिंतक 'संस्पर्श' का भरपूर स्वागत करेंगे।

—रमानाथ अवस्थी

अपनी बात

'संस्पर्श' मेरा तीसरा काव्य-संग्रह है, जो अपने मुद्रित रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। मेरे गत संग्रह 'संदर्श' में चेतन-अचेतन मन के बीच की अभिव्यक्ति थी, 'संस्पर्श' इस कड़ी का अगला पड़ाव है। यह 'संस्पर्श' मन का सुकोमल स्पर्श है, जो कविता के कैनवास पर शब्दों के माध्यम से व्यक्त हो रहा है। यह गुलाबी अहसास स्नेह का, सृजन का, नवजीवन का तथा अपने आसपास घट रहे जीवन-मूल्यों के साक्षी होने का है। मैं अतिशय संकोच के साथ यह निवेदन करना चाहता हूँ कि कविता के लिए कविता होना पहली शर्त है। यदि कविता इस शर्त को स्वीकार नहीं करती तो इसे सार्वजनीन बनाने का कोई अर्थ नहीं है। कविता का मौन आमंत्रण जब तक पाठक के कानों के पास आकर फुसफुसा न सके, कविता का अर्थ स्वयं में ही प्रश्न-चिह्नित हो जाता है। आज के अपसंस्कृति के युग में जब कविता कई विचारधाराओं और परिभाषाओं से गुजर रही है तब कवि का उत्तरदायित्व और भी बढ़ गया है। कविता के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया के क्रम में जो प्रवाह बहता रहता है वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है। यह प्रवाह आगे चलकर फैंटेसी के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यह फैंटेसी व्यक्तिगत न होकर लोक-फैंटेसी हो जाती है। 'संस्पर्श' फैंटेसी की कविता तो है ही, नवकल्पना और नवसृजन की भी कविता है। 'संस्पर्श' की कुछ कविताएँ विज्ञान की कविताएँ हैं। आज विज्ञान के चरमोत्कर्ष के क्रम में नव-विकासवाद की परिकल्पना शाश्वत मूल्यों के खंडित होने का प्रतीक मात्र है। विज्ञान की प्रगति के प्रति सम्मान किंतु उसके

विनाशक रूप के प्रति चैतन्य तथा विश्वजनीन मानवता की स्थापना ही आज हर कवि का दायित्व है। 'संस्पर्श' इस पथ को भी अपने में समेटे हुए है।

कविता एक ऐसी संपूर्ण अभिव्यक्ति है जिसे शायद ही किसी शीर्षक की जरूरत हो। कविता स्वयं में ही परिपूर्ण है; क्योंकि वह गाती है, बोलती है, हँसती है, खिलखिलाती है और हमारे बहुत पास आकर आत्मसात् हो जाती है। पर इस कविता को अपनी मुट्ठियों में बाँधकर रखना कवि-धर्म तो नहीं है, इसलिए मैंने मुट्ठियों को खोल दिया है। मैं इस यात्रा में अपनी पत्नी, अपने बच्चों, स्वजनों तथा मित्रों का आभारी हूँ जिनके स्नेह के बिना 'संस्पर्श' का इस रूप में प्रस्तुत हो पाना संभव न हो पाता। मैं श्रद्धेय श्री रमानाथ अवस्थीजी तथा आदरणीय डॉ. कुँवर बेचैनजी का अत्यंत आभारी हूँ, जिन्होंने अपना शुभाशीष देकर इस संग्रह को प्राणमय किया है।

आपके स्नेह और आशीर्वाद की आकांक्षा में यह संग्रह आपके सम्मुख प्रस्तुत है।

१५ अगस्त, १९९९

—अरुण वीर सिंह
१५, सेक्टर-१४ए,
नोएडा (उत्तर प्रदेश)

काव्य-क्रम

१.	संस्पर्श (एक)	१५
२.	संस्पर्श (दो)	१७
३.	सच कहना	१८
४.	सुबह	२०
५.	मंत्र हो गए शब्द	२१
६.	अच्छा लगता है	२२
७.	दस्तक	२४
८.	आहट	२६
९.	टहनी की पीड़ा	२८
१०.	हरी दूब	३०
११.	आस्था का गाँव	३२
१२.	मनी प्लांट	३५
१३.	परिभाषाओं का सच	३७
१४.	नव-विकासवाद	३९
१५.	उम्र भर जिया	४१
१६.	रेखाएँ	४३
१७.	लगता जैसे सारा	४४
१८.	तुम देखना	४६
१९.	संधि-बिंदु	४७
२०.	प्रियतम	४८
२१.	आदमी की परिभाषा	५०

२२. रेप म्यूजिक ५२
२३. मैंने देखा है ५४
२४. समझ ५७
२५. रंग ५९
२६. भ्रम-जाल ६१
२७. हर मोड़ पर ६३
२८. जलना ६५
२९. जागती आँखों का शहर ६६
३०. जानता हूँ ६८
३१. तुम डूबोगे नहीं ७०
३२. बरसों जिया मैंने ७२
३३. तुमको बुलाते ७४
३४. एक तुम न आए ७६
३५. सच का सूरज ७८
३६. विलुप्ता कालजयी ८०
३७. पीला स्पर्श ८२
३८. सम्मोहन ८४
३९. बसंत के द्वार ८५
४०. फिर आना ८६

संस्पर्श (एक)

ढूँढ़ा है तुम्हें
बहुत मुश्किल से
अपनी हथेलियों के बीच;
छोटे-छोटे टुकड़े जोड़कर
कैसे तुम्हारे चित्र बन गए
मैं जान ही न पाया,
इसीलिए मैंने
भींच लिया है मुट्ठियों को
क्योंकि मैं तुम्हें
खोना नहीं चाहता;

विवश मत करो
मेरी अंगुलियों को
जिन्होंने
छू रखा है तुम्हें स्नेह से।
तुम्हारे संस्पर्श मात्र से
संचार होता है,
जीवन की अनंतता का...
और मैं हर अपनी
कविता की तरह
तुम्हें निरंतरता में

नहीं ढूँढ़ना चाहता;
क्योंकि मुझे, तुम्हें,
अपने में,
ढूँढ़ने की आदत पड़ गई है।

□

संस्पर्श (दो)

मैं तुम्हें
खोना नहीं चाहता
इसीलिए
अपनी हर कविता में
तुम्हारा नाम नहीं लिखता!

तुम्हारा संस्पर्श है
बिंब में,
कल्पना में,
फैंटेसी में,
मेरी कविता के हर अधीर प्रश्न में
तुम्हारे असमंजस भरे उत्तर में,
सत्य में,
संवेग में,
आवेग में,
तुम्हारे 'नाम' के निर्मल स्रोत में,
मैं अपनी कविता की तृष्णा
बुझाना नहीं चाहता,
इसलिए अपनी हर कविता में,
तुम्हारा नाम
नहीं लिखता! □

सच कहना

सर्द हवाओं में
छुअन के दर्द को
सुबह से ही बाँटना
कैसा लगता है
सच कहना...

अलसाई सकुचाई
देहरी पर आई धूप को
मुट्ठियों में बाँधना
अच्छा लगता है
सच कहना...

अलमस्त बादलों का
कमरों में चुपचाप चले आना
देखते-ही-देखते
हथेलियों का भीग जाना
सपना-सा लगता है
सच कहना...

हर आहट पर
बिना कुछ कहे

तुम्हारा लौट जाना,
सर्द हवाओं में
जाड़े की ठंडी सुबह को
धूप में गुनगुनाना,
कैसा लगता है
सच कहना…

अकसर तुम्हारा
आकर भी न आना,
सिंदूरी शाम में
तुम्हीं में डूबकर
तुम्हारा खत बाँचना
कैसा-कैसा लगता है
सच कहना…
सर्द हवाओं में
छुअन के दर्द को
सुबह से ही बाँटना…!

□

सुबह

एक सुबह अलसाई-सी
सर्द हवा के झोंके में,
जाने कुछ सकुचाई-सी
छू-छूकर चेहरों को
नर्म दुलहन जैसी,
स्वेटर पर स्वेटर पहने
कपड़ों पर कपड़े पहने
खिली हुई
अलसाई-सी···।

□

मंत्र हो गए शब्द

मंत्र हो गए शब्द
घटा हो गए छंद
रात भर
रुक-रुककर बरसती रही,
अस्तित्व की एक बूँद!
क्रमशः
निस्तब्धता को तोड़ती
छटपटाहट और पीड़ा के ठौर में,

मुझे अकेला पाकर
गंध बिखेरते पुष्प,
महका गए परिवेश को
कौन कहता है,
मैं अकेला रहा
रात भर?

□

अच्छा लगता है

अच्छा लगता है
परिभाषाओं के जंगल में
अकसर तुम्हारी याद का
मेरा रास्ता रोक लेना
बार-बार तुम्हारा नाम
मुझी से पूछना,
और बच्चों की मानिंद
मचलना
अच्छा लगता है…

कल्पनाओं के क्षितिज पर
पल-दो पल ठहरना
भ्रम में डूबना-उतराना
अँधेरे का गीत गाना
उजाले में लौट आना
चाहत का पिघलना
दर्द का तरलना
अच्छा लगता है…

दिवा स्वप्न का आना
उन्मादी पल का बिखर जाना

न कुछ खोना
न कुछ पाना
फूलों में पलना,
नागफनी में उलझना,
काँटों में सँभलना,
अच्छा लगता है…

परिभाषाओं के
जंगल में
अकसर तुम्हारी याद का
मेरा रास्ता रोक लेना…।

□

दस्तक

कब कहाँ और कैसे
दस्तक दी तुमने ।
झंझावाती थपेड़ों के बीच
लहूलुहान चेहरा
काँटों में फँसा
तुम्हें पहचान ही न सका।

गुलाबी पंखुड़ियों को
अंजलि भर समेटता
अनजान-सा चेहरा तुम्हारा
मैं जान ही न पाया
कब कहाँ और कैसे
दस्तक दी तुमने।

तेज धूप की अंधी दौड़
घरों से सड़कों तक दौड़ती
सन्नाटे को चीरती
मेरी हर आवाज
तुम तक पहुँचती, न पहुँचती
बीच में ही
बिखर जाती

सुनसान-सी डगर
याद की पहर
डूबता उभरता तुम्हारा चेहरा
मैं जान ही न पाया
कब कहाँ और कैसे
दस्तक दी तुमने।

कद से लंबा होता साया
सुबह-शाम
बनता-बिखरता
हथेलियों में सिमटता
तुम्हारे खुशबू भरे हाथ
कब छिप गए मेरे चेहरे में
अपने पास
अनजान बनती लहर
प्यार की दहर
मैं जान ही न पाया
कब कहाँ और कैसे
दस्तक दी तुमने।

□

आहट

शब्दों में घुलती शोखियाँ
नर्म हवाओं की अकुलाहट
छुआ है किसी और ने
है किसी और की
यह आहट।

बर्फ के दर्प-सी
तुम्हारी हँसी,
पिघलते कैनवास पर
तुम्हारी हँसी,
मुझे बेहद पसंद है
हर अधूरी चीज
मेरे मनुहार की तरह
वह अपने आपमें पूरी है
मेरे प्यार की तरह
जैसे मरुस्थल में हो तरुवाहट
छुआ है किसी और ने
है किसी और की यह आहट···
अनुबंधों का नया अहसास
जैसे हवाओं में हो
एक नन्हे फूल का जन्म,

खोते विलीन होते शब्द,
पंखुड़ियों की महक में
तितलियों की आहट,
छुआ है किसी और ने
है किसी और की यह आहट···।

□

टहनी की पीड़ा

जीना
उस टहनी की पीड़ा से
नव कल्पित पीड़ा तक
जो अप्पिको, चिपको, नारों
समय के थपेड़ों
ऋतुओं के झंझावातों के बीच
एक लंबी खामोशी में रत है;
चुपचाप पदचाप सुनने में!

नव पुष्पित
आगमन हो ऋतुराज का
जो भर देगा
उसकी गोद को
रँग देगा उसकी काया को
अपनी हरी-हरी
सुकोमल गुलाबी-लाल
हरी होती पत्तियों से,

सूखी टहनी को
सृजनता, संपूर्णता का शब्द देगा,
शाश्वत पीड़ा जिजीविषा को

अर्थ देगा,
मात्र साध्य है,
नव कल्पना आशा और संयोजन का
क्योंकि
जीवन का सत्य,
अंधकार, कायरता
और पलायनवादिता के रास्ते से होकर,
कहीं तो नहीं गुजरता है।

□

हरी दूब

अनजान आहट
एक अंतराल की;

बरसों पहले
पैरों तले कुचली हुई दूब को
फिर से हरा होते,
दर्प से मुसकराते
विवशता की पीड़ा से
अनजान बनते
सरलता से पहचान बनते
नेपथ्य में
गूँजते, खिलखिलाते
महकते,
दहकते
चूड़ियों की खनक
कंगूर के बेलों पर
करीने से चढ़ती
सहजता की कनक,
संदर्भों में ही
स्पर्श पाकर तुम्हारा
है कैसी आज

यह नवेली-सी थरथराहट
एक अंतराल की
अनजान हो चुकी आहट

देखा है आज
बरसों पहले
पैरों तले
दबी-कुचली
दूब को
फिर से हरा होते···!

□

आस्था का गाँव

सुर-सुर
छाँव कहीं
दूर कहीं है
गाँव कहीं
टेढ़े-मेढ़े रास्ते हैं
मूर्च्छित हैं
पाँव सभी,
जाना है एक गाँव कहीं
आस्था का एक गाँव कहीं…

दंशों के प्रतिकारों में
संकट के प्रहारों में
अनसुनी
अनगूँजी गूँज में
स्वर बन
दीये जले,
धधक-धधककर
मूँज जले,
सुबह कहीं है
साँझ कहीं,

लगा बहेलिए
दाँव कहीं
जाना है आस्था के गाँव कहीं…

लौटे पक्षी
बायों में,
बच्चे अपने-अपने
सायों में,
निंदिया डोले
आँखें खोले
भ्रम मुँडेर पर
कागा बोले;
प्रश्नचिह्नों में
बौने हैं
राह सभी,
आस्था का एक गाँव कहीं…

न कुछ शेष रहा
न ही अवशेष रहा
जाने कैसा यह संवेग रहा
नियति के थपेड़ों में
सावन की दोपहरी में,
धू-धू जलती
छाँव कहीं,
आस्था का एक गाँव कहीं…

बन सूरज
पंखुड़ियाँ छू लूँ
बादल बन
तुमपर बरसूँ,
लहरों पर लहरें
गरज–गरजकर
जैसे ठहरें,
आतुर मनवा
गाँव तुम्हारे आने को
वैसे ही घहरे,
जाना है
उसपर मुझे भी
पर नदी कहीं है
नाव कहीं,
आस्था का एक गाँव कहीं…

□

मनी प्लांट

देखा है तुम्हें
मनी प्लांट के
हरे रुपहले पत्तों की तरह
लहराते हुए

देखा है तुम्हें
कभी-कभी
दीवारों पर
बँगलों के करीनेदार छज्जों के नीचे
सूखी टहनियों के
बीच नव कल्पित होते
मुसकराते हुए

देखा है तुम्हें;
सफेद सिलवरी
रंग बदलते
नव जीवन के
संभावना का
नव बीज बोते

देखा है तुम्हें
कभी-कभी
मनी प्लांट के
हरे रुपहले
पत्तों की तरह…

□

परिभाषाओं का सच

विलीन होने
खोने में
जन्म होता है एक नई लहर का
खोना एक की नियति है
जनमना दूसरे का सत्य।
इस सत्य को
खोजते
लहरों पर लहरें गिनते
पूछते भला कभी सागर से
कितनी लहरें जनमीं संवेग की धार में
समा गईं
गरलता के प्रतिहार में
नदियों के गेह में
धार छोड़ती
सीप बनती
शंख ढूँढ़ते
रेह में,
मुट्ठी भर बालू में
घरौंदा बनाना एक लहर का
गरजकर आना
दूसरे पल चुपचाप

सबकुछ
बहा ले जाना
खोना और पाना,
उदय और विलीन होना,
पल-पल दुविधाओं का
यही सच है
परिभाषाओं का।

□

नव-विकासवाद

जीवन के उद्‌भव से
पीढ़ी-दर-पीढ़ी
अर्जित होती 'जीन';
नव-डार्विनवाद तक आते-आते
खुराना के प्रयोगशाला में
संश्लेषित हो जाती है,
वायरस बनकर
बिखर जाती है वायुमंडल में,
मानव की परिभाषा
विश्लेषित करती जाती है
इक्कीसवीं सदी के
द्वार पर दस्तक देते
यांत्रिक मानव में,
तेज अंधी दौड़ में
आकार नहीं दे पाते
अभिव्यक्ति को,
शून्यता में ढूँढ़ते
प्रतिबिंब को साकार नहीं कर पाते;
खंडित मूल्यों के युग में
त्रासदी के द्वार खड़े लोग
मात्र 'जीन',

अर्जित करते जाते हैं;
संस्कारों में बँधे
'मेरु' को
विसर्जित करते जाते हैं,
सुबह-शाम
रोज में जीना;
आज का यही तदर्थवाद है?
संवादहीनता में
कैसा संवाद है!
हाँ, नव-विकासवाद है।
यही विकासवाद है!!

□

उम्र भर जिया

संभावनाओं के द्वार
सुबह-दोपहरी-शाम;
उम्र भर जिया
मैंने तुम्हारा नाम···

बागों की अमराई में
टेसू की तरुणाई में
अमल मधुर स्पंदन-सी
छिपी सुबह
सिंदूरी शाम
उम्र भर जिया
मैंने तुम्हारा नाम···

कभी वादियों में
कभी आँधियों में;
सपन सलोने
कुंदन में,
स्नेहासिक्त अनुबंधन में,
संपूर्णता में
क्षितिज की ओर
अपलक ताकती

तपती सहज
सुबह–दोपहरी–शाम
उम्र भर जिया
मैंने तुम्हारा नाम…!

□

रेखाएँ

परिभाषित होती रेखाएँ
आड़ी-तिरछी रेखाएँ
जीवन-मूल्यों की रेखाएँ
काटती अकसर एक-दूसरे को;

परिभाषित होती
रेखाएँ···
मस्तिष्क से हृदय तक जाती रेखाएँ
आधारों को
प्रश्न बनाती रेखाएँ?
गुम होती
कर्म ढूँढ़ती
आलंबी रेखाएँ!
आकृतियों की
सहमी रेखाएँ,
गहमा-गहमी की रेखाएँ,
राजनीति की
छद्म रेखाएँ,
पतन की
आभाषी रेखाएँ,
काटती एक-दूसरे को
परिभाषित होती
रेखाएँ··· □

लगता जैसे सारा

प्रेम प्यासे नैन
हैं जब पास तुम्हारे
लगता जैसे सारा
फागुन हो
साथ हमारे

पलक-पलक में
रंगों की अठखेली
बरजोरी कान्हा से
कैसी होली खेली
भीग गए सब
अधिवास तुम्हारे
लगता जैसे सारा...
फागुन हो साथ हमारे

अबकी रंगों में
मस्ती भर-भर के छाई
बरसाने में माधव ने
फिर धूम मचाई
भर-भर मारी पिचकारी
भीग गईं सखियाँ सारी

शेष रह न पाए
आभास तुम्हारे
लगता जैसे सारा…
फागुन हो
साथ तुम्हारे!

□

तुम देखना !

खो न जाएँ
ये पवन तुम्हारे
तुम देखना!
तेज हवा के झोंकों में
बुझ न पाए
यह हवन
तुम देखना!

मिट्टी में
निकले सोना,
सोते-सोते
सबकुछ न खोना,
खो न जाएँ
नयन-दीप तुम्हारे
प्रेम पिआसे
स्वाति सीप तुम्हारे
तुम देखना!

□

संधि-बिंदु

संधि-बिंदु है
रीति का
संबंधों की रिमझिम प्रीति का···

बागनबीलिया की टहनी से झाँकती
गुलाबी छाँव का,
बागों की अमराई में
खिलखिलाते गाँव का,
स्पर्शों की भीत का
मेरे खोए हुए मीत का
संधि-बिंदु है
रीति का!

□

प्रियतम

पागल हवाओं के स्पर्श ने
मुझे कविता बना दिया,
अंधड़-लू के
थपेड़ों ने मुझे
सविता बना दिया,

मेरी पहचान
मुझमें खो गई
जाने कब कैसे
सारी निशा सो गई
अँधेरी रात के
आगोश में
तिनकों में लिपटे
मदहोश में
आँख जब खुली
सपनों की भीड़ से
कल-कल करते कलरव ने
ठंडे स्पर्श का
सुख देकर उसे
सरिता बना दिया,

मैं भीग गई
उसकी ओस में
डूब जाना चाहती
उसकी गोद में
मुझे पहचानकर
अंजाम दे दिया
सपनों को
नया नाम दे दिया,

वो मेरा प्रियतम
बदलता है
नित नए नाम
बुलाता है मुझे
नित नए नामों से,
खोजना उसकी नियति है
शायद;
बिखरना
मेरे स्नेह का!

□

आदमी की परिभाषा

नागफनी के संग
कँटीले रंग
जिंदगी देखी मैंने
रेगिस्तान के संग···

आते-जाते
बोलते-बतियाते
जिंदगी को
एकाएक
ठहरा हुआ पाया
उस आदमी की तरह
जो भीड़ में
एकाएक अकेला
हो गया है,
किताबों-पत्रिकाओं के मुख पृष्ठों से
बाहर आ गया है,
एक आदमी की
तरह
पूरी जिंदगी जिया
लाशों की भीड़ में
संगमरमरी दिल्ली

की नीड में
आज आदमी की
परिभाषा ढूँढ़ने निकला है
रेगिस्तान की छाती पर···

अपने साये में
अर्थ ढूँढ़ना चाहता है···

एक-एक काँटा
नागफनी-सा चुभ रहा है,
वह आदमी की तरह
महसूस कर रहा है।

□

रेप म्यूजिक

क्यों चिल्ला रहे हो
व्यर्थ चिल्ला रहे हो
कौन सुनेगा तुम्हें
बहरों की भीड़ में
लहरों की भीड़ में
रोम से चिल्लाते-चिल्लाते लोग
आ गए हैं
दिल्ली की सड़कों पर···

पागलों की तरह
चिल्ला रहे हो
उन्हें देखकर तुम भी
पाश्चात्य सभ्यता की तरह
रेप म्यूजिक में
चिल्ला रहे हो···

भला यह भी कोई
चिल्लाने की बात है
अंधे-बहरे-गूँगों की बारात है
तुम भी शामिल हो जाओ
शव तो अकसर आते-जाते रहते हैं;

शवों के आने-जाने का रास्ता
यहीं से होकर गुजरता है
मानवता की त्रासदी पर
इतिहास का अंकन
यहीं से शुरू होता है···।

□

मैंने देखा है

मैंने देखा है
हवाओं को बतियाते
संभावना का गीत गाते
पेड़ों को स्याह होते
नदी को खिलखिलाते
मैंने देखा है…

आसमान को नीला होते
गोधूलि को पीला होते
शाम को
दीये-से टिमटिमाते
छप्पर में
एक लाचार बेटे को
भूखे ही
थपकी देकर सुलाते
उसे स्वप्नलोक में ले जाते,
मैंने देखा है…

गरीबी लाचारी
कोई कैसी, बेचारी
लाज को बचाते

फाँसी लगाते
दहेज की वेदी पर
नववधू का घूँघट उठाते,
सकुचाते-शरमाते
स्टोव को
उसकी सखी बनाते,
झुलस-झुलसकर जलाते
मैंने देखा है हवाओं को बतियाते···

देखते-ही-देखते
हरी-भरी अमराई को
मैदान में बदलते
जंगल का घर उजड़ते
पशु-पक्षियों को
शहरी घरों में घुसते,
उन्मुक्त
जंगल के बदले
बंद पिंजरे में पलते,
टुकड़े-टुकड़े को तरसते
मैंने देखा है हवाओं को बतियाते···

सपनों को
अपना कहते,
अपनों को
सपना कहते,
मौसम की तरह बदलते
चाहत को पिघलते

न लौटकर आने को
लिये जाते,
संभावनाओं की देहरी पर
कल्पनाओं की
मेहँदी रचाते
मैंने देखा है हवाओं को बतियाते···

□

समझ

प्रश्न अनुत्तरित हैं
शब्द श्मशान हुए
परिभाषाओं के जंगल में
बौने सब इनसान हुए···

अपनी-अपनी पीड़ा है
अपनी-अपनी मजबूरी
रिश्तों से रिश्तों तक
कैसी-कैसी दूरी
कुछ गैर हुए
इनसानों से
कुछ जाति-धर्म के
अफसानों में
भाई से भाई दूर हुआ
जाने कौन-कौन मजबूर हुआ
विवश विवशता
पीड़ा कैसी
सबके सब अनजान हुए
प्रश्न अनुत्तरित हैं
शब्द श्मशान हुए···

समझेंगे कैसे वो
समझ-समझकर समझ न पाए;
बैलों के घुँघराले
फुलनी घंटी में
मंदिर-मसजिद
जिसे नजर न आए
तप शाप है
धर्म कहाँ,
इनसानों जैसा
कर्म कहाँ,
जोड़-तोड़ में जुगत रहे
करनी का ही
फल भुगत रहे,
सर्वधर्म समभाव नहीं!
पर पीड़ा
परिभाव नहीं,
तप कर कैसे निखरेंगे
जो जलने में ही
अनजान हुए
प्रश्न अनुत्तरित
शब्द श्मशान हुए···

□

रंग

लाल-गुलाबी
नीले-पीले
सब रंगों में रंग
तुम्हारा
बरबस ही बरसे
फागुन के रंगों में
रंग तुम्हारा...

टेसू में
मिलता-घुलता प्रतिबिंब तुम्हारा
पिचकारी की बौछारों में
कैसा-कैसा बिंब तुम्हारा
फागुन में बरबस ही बरसे
कैसा-कैसा रंग तुम्हारा...

मधुमासी अलतासी
सपन-सलोने,
सरसों के रंगों में
अलमस्त-सा लागे
रंग तुम्हारा,
भूली स्मृतियों के

पावन पंखों पर
निर्मल-सा लागे
मोहे, रंग तुम्हारा
लाल-गुलाबी···

'बरसाने' की होली में
जग सारा पूजे संग तुम्हारा
मर्यादा युग राधा,
कान्हा ने कैसे-कैसे था
रँग डाला
सुधियों की पिछली होली में
इंद्रधनुषी सखियों की
टोली में
तुमने भी तो मुझको
ऐसे ही था रँग डाला
फागुन में बरबस बरसे···

अबीर-गुलाल उड़े क्षितिज में
टेसू के रंगों में मिलता-घुलता
प्रतिबिंब तुम्हारा
पिचकारी की बौछारों में
कैसा-कैसा बिंब तुम्हारा
फागुन में बरबस बरसे,
रंग तुम्हारा···

□

भ्रम-जाल

पहली बार
देखा है तुम्हें

बरबस डूबता-उतरता तुम्हारा चेहरा
भीड़ में क्यों शामिल नहीं हो पाता है,
यह प्रश्न मुझे
हर भीड़ में उलझाता है
सबको
तुम्हारे चेहरे से हटाने की कोशिश में
मैं कभी-कभी
खुद हट जाता हूँ
नेपथ्य में उतरती-डूबती आँखों में,
अकसर स्टेशन पर
एक किनारे दीवार से
सट जाता हूँ
बुनने लगता हूँ
तुम्हारे भ्रम-जाल को
नैसर्गिक उत्सर्ग के
भाषा-जाल को
नेपथ्य में
खिलखिलाती तुम्हारी हँसी को,

धूप की मानिंद
मुट्ठियों में समेट लेना चाहता हूँ
तुम्हारी हँसी को···

तुम्हारे साथ
कल्पनाओं के पाँव पर
कुछ और दूर जाना
चाहता हूँ,
इतना सोचते-गुनते तुम
भीड़ में गायब हो जाती हो,
और मैं अकेला
भीड़ को स्वप्न बनते
और स्वप्न में भी
तुम्हें खोते
पहली बार देखता हूँ!

□

हर मोड़ पर

लोकतंत्र का दारुण दृश्य
देखा हर मोड़ पर
धूल में सटते-पटते
विविधा में खोजते
एकांत में सुखांत होते
स्वप्न को श्मशान होते
व्यवस्था को अनजान होते
लोकतंत्र के चीर-हरण का
दारुण दृश्य देखा
हर मोड़ पर···

भोगा है
नितांत मर्म को
पाउचों, थैलों में
चुनाव की रात
बँटते राजकर्म को
सजग प्रहरी को उनींदा होते
संविधान को शर्मिंदा होते
देखा है हर मोड़ पर···

लोकतंत्र के चौराहों को
चारों स्तंभों के पाँवों को
हिलते-डुलते
पल-पल बिकते
फोड़ों से नासूर बनते
तंदूर में जलते
रिस-रिसकर बहते
जनता की सत्ता को
नंगा होते
लोकतंत्र का
दारुण दृश्य देखा है
हर मोड़ पर···

□

जलना

सरस सजल नयन
स्वाति दीप बने
अंजलि भर
स्वप्न दीप जले
जलने की मर्माहट में
हवन जले
सजन जले,
धधककर धू जले
सिसक-सिसककर
सगुन जले,
लौ की गरमाहट में
सृजन जले
अकुलाहट में
संदेह जले,
सकुचाहट में
संवेद जले,
जलने की पीड़ा में
सारे-के-सारे
संवेग जले··· □

जागती आँखवों का शहर

जागती आँखों का
सच है
एक सोता हुआ शहर
पहर-दर-पहर
तपती दोपहर
ईंट बड़ी होती रही
घर छोटा होता गया
और घरों में रहनेवाले
बौने होते गए
अपने साये से भी
छोटा होता रहा शहर
पहर-दर-पहर
तपती दोपहर...

ऐ हवा!
तू न इठला
झोंकों को चुप
कर दे जरा
नींद में न पड़ जाए खलल,
तू देख जरा
भागती जिंदगी का

भागता हुआ शहर
दूसरों के गरेबान में
झाँकता हुआ शहर
पहर-दर-पहर
तपती दोपहर···

छोटे-छोटे अंशों में बँटे
भागती जिंदगी का
भागता हुआ शहर
सप्तवर्णी आकाश में
डूबता-उतराता रहा शहर
पहर-दर-पहर
तपती दोपहर,
जागती आँखों का
सच है
एक सोता हुआ शहर···

□

जानता हूँ

तुम लौटकर नहीं आओगे
प्रारब्ध, नियति
सजल शब्द
मत कहो
सहो
सहते रहो अस्पष्ट,

क्या लिखा था
उस पत्र में
जिजीविषा का
गीत जो गाओगे
जानता हूँ...

गुजर गए थे
एक अँधेरे में
जलते बुझते दियों के
सवेरों में
खोते हुए
अस्तित्व में
अधूरे पड़े स्क्ति में
तुम क्यों गीत

कोई गुनगुनाओगे
जानता हूँ...

जाड़े की
धुँधली सुबह में
पिघलती भाप
उँगलियों के पोरों से छूते
सँवारते हाथ,
हो गए अभिशप्त जैसे
तुम्हारे जाने के साथ,
तिरोहित पल
एक रोशनी का
पर दीप
क्यों तुम जलाओगे?
जानता हूँ तुम
लौटकर नहीं आओगे।

□

तुम डूबोगे नहीं

लहरों में
उभरती आकृति
तुम्हारी तो नहीं
जो बारंबार
आमंत्रण दे रही
बाहें फैलाकर
बोझिल पलकों से
विश्वास का
सुख दे रहीं,

'तुम डूबोगे नहीं'
का अहसास
कितना स्वप्निल है
इस विश्वास ने
जाने कितनी बार
मुझे विलीन किया है
तुम्हारे फैले बाँहों के आमंत्रण में,
मुझे अस्तित्वहीन बनाने का सुख
वर्णहीन, गंधहीन
आकारहीन
सच को स्वीकारने का सुख,

मैं जानता हूँ
तुम्हारे इस सुख में है
काल की मौन स्वीकृति
लहरों में उभरती
कुहरे की लपट,
मैं एक बार फिर
नि:श्वास पाषाण
होने की प्रक्रिया में
सतत!

□

बरसों जिया मैंने

एक क्षण की वेदना को
बरसों जिया मैंने
दृष्टि से तृप्ति तक की
चेतना को
बरसों जिया मैंने···

शनैः-शनैः
विस्मृत होती तुम्हारी याद का
अकसर मुझे रोक लेना
पंख तौलते
पक्षी की मानिंद
अनजान राहों की टोह लेना
पारिजात के गीले पंख से
अपने पाँव में लगे छल्ले से
खुद को
जोड़ने की चाह में,
उड़ान की राह में,
अनंत क्षितिज का
अमृत कब
क्यों, कैसे
पिया मैंने

उस एक क्षण की
वेदना को
बरसों जिया मैंने···

स्वप्न की
धार बनती
उफनती मझधार बनती
सीप में
रीति होते
स्वप्न में
प्रीति होते
एक-एक छुअन को
तुम्हारे सजल नयन को,
आवेग की डोर से
प्रीति की छोर से
कब-कब छुआ मैंने
उस एक
क्षण की वेदना को
बरसों जिया मैंने··· □

तुमको बुलाते

प्रारब्ध की शिला
थपेड़ों के गीत
गुनगुनाते स्वर
अनबूझ पहेलियों के संगीत
गीत गाते हैं कल का
आज ही तुमको बुलाते···

नदियों में
शंख को
सीप से ढूँढ़ते,
मंत्र में
तंत्र में
ॐ में ढूँढ़ते,
ऋचाओं के द्वार पर
प्रारब्ध के पार पर
दबे पाँव सकुचाते
गेह को थपथपाते
नेह को सुलाते
आज ही तुमको बुलाते···

रास्ता तकते
द्वार तक
कालचक्र के पार तक
मेरे इनकार तक
तुम्हारे स्वीकार तक
छुअन तक
तुम्हारे नयन तक
झिलमिलाती प्रीति को
हथेलियों में छुपाते
आज ही तुमको बुलाते···

साँझ ढलते गाँव में
नंगे-नंगे पाँव में
सरसों के रंग में
अपनों के संग में
मिट्टी की छाँव में,
बीज उगते
स्नेह छलते गाँव में
चहचहाते कलेवर से
झिलमिलाते स्वर से
तुम्हारे पास आकर
तुम्हें ही जताते
आज ही तुम्हें बुलाते···!

□

एक तुम न आए

एक तुम न आए
संभव की पीर से
चेतना के छोर से
धूप की अलसाई
खिलखिलाहट,
मेह की अंगुलियों में,
आसमान ढाँपते
चित्र छापते
हाथों में,
बरसती रही रात
घुलते रहे
नर्म साये
एक तुम न आए···

पतझड़ बीता
बीती ऋतुएँ
कोयल की
कुहू-कुहू में
बीती रस्में
नव-नव पल्लव से
भर-भरकर झूमें डालें

सावन में मिल सखियाँ
फिर-फिर पेंगा डाले
मोर हृदय का
बाँहों के पंख पसारे
बिन मौसम ही
तुम्हें पुकारे
पंख सजाते
शब्द उड़ाते
गीत सुनाते
पी-पी करते
घर को आते
गोधूलि में
लंबे होते साये
एक तुम न आए···

□

सच का सूरज

सुबह का सूरज
मेरे पास आकर बोला
सुबह की दौड़ में
कहाँ तक जा रहे हो
यह हरी-भरी
पीली खुशबू
ओस से भीगी
सोंधी गंध
इन्हें छोड़कर
कहाँ जा रहे हो?

तुम्हारा अंत भी यहीं
प्रारंभ भी तो यहीं
प्रारब्ध को ढूँढ़ने
कहाँ जा रहे हो!
वह बहुत पास आकर बोला
आओ
मेरे घोड़ों के रथ पर
तुम भी सवार हो जाओ
तुम्हें दिखलाऊँ
संस्कृतियों का सूरज

संभावनाओं का
विषमताओं का सूरज
जो इस उत्तरार्द्ध से
उस गोलार्द्ध तक
अपनी नियमित
यात्रा पूरी करता है
जो खुद भी नहीं
देख पाता
सुबह का सूरज,
इस सूरज को
अपनी मुट्ठियों में,
साँसों में बाँधकर,
सुबह से शाम में
ढूँढ़ना चाहते हो,
यदि ढूँढ़ना ही है
तो अपने अंतर्मन में देखो
जहाँ रोज
एक नया सूरज चमकता है,
नित प्राणमय हो,
ॐ की ऋचाओं का,
और एक तुम हो कि
अपने अँधेरे में,
सच का सूरज भी
नहीं देख पाते हो!

□

विलुप्ता कालजयी

सूखी नदी विश्वास की
अस्तित्व के आभास-सी,
दौड़ी जा रही
अनंत को
विलीन होते
रंध्र को
कभी उफनती थी
गुर्राती थी
स्वप्निल से
गाँवों को,
सुकोमल छाँवों को
बहा ले जाती थी,

उसका विशाल
वक्षस्थल
एक छोर से
दूसरे छोर तक
न समाता था
उसका निर्मल जल
अमरता
अस्तित्व का गीत गाता था

नावों में भरे लोग
उसकी उफनती धार को
मझधार को
पार करते थे,
बारंबार नमस्कार करते थे,
कितने महायुद्ध देखे थे
इसके विराट् पाटों ने,
खून में सनते
विविधा में खोजते
अधखुले हाथों ने,
अब भी यहाँ है
अंगुलियों की छाप,
पैरों के निशान,
शिविर में खनकती
घुघरूँ की थाप
नीरवता को चीरती
पर नहीं है
तुम्हारी हुंकार,
तुम्हारी होने का
बोध मात्र ही
विराट्ता का महायान है,
हे विलुप्ता कालजयी!
तुम्हें शत्-शत्
प्रणाम है!

□

पीला स्पर्श

समय के साथ
हम चलते हैं
हमारे साथ
समय क्यों नहीं
चलता?

आखिर मैं ही
बार-बार
इस पीड़ा का शिकार
क्यों होता हूँ
तुम क्यों
नहीं होतीं?

समय का तुम्हारे साथ ही चलना
बार-बार मचलना,
मैंने माना
नीली चिड़िया ने
विहा दिए
सारे स्वप्न
सारे पाश
उन्मुक्त के
उड़ान में,

पर तुम्हारे खुशबू भरे हाथों से
पीली तितली का
पीला स्पर्श
बार-बार मुझे
क्यों होता है?

इसे पीड़ा के अभिनव को
नहीं बाँटने का निर्णय तो तुम्हारा ही था

बार-बार मैं
इस बंद सुरंग में
रास्ता भूल जाता हूँ
भीत पर
अँधेरों का चित्र बनाता हूँ,
खुरदरे भीत में
पीले स्पर्श को
तुम क्यों नहीं बाँटती?

□

सम्मोहन

याद है अब तक
मुझको,
नीली घुँघली खामोशी में,
तारों को गीत सुनाना,
सम्मोहित नयनों का
संग तुम्हारे जाना,

काले-काले बादल घिरते
जैसे बिखरी अलकें
रीता-रीता मौसम ऐसा
जैसे रस में
डूबी पलकें
यू डूबी स्निग्ध शाम में
संस्पर्श तुम्हारा फिर-फिर पा जाना
याद है अब तक मुझको,
सम्मोहित नयनों का
संग तुम्हारे जाना!

□

बसंत के द्वार

यक्षिणी का यक्ष से
स्वप्न का सत्य से
कैसा मिलन है
धरा का गगन से
संग सजन का
मैंने छूकर
बुलाया है
स्वप्न से जगाया है
बसंत के द्वार
कौन आया है…?

□

फिर आना

फिर आना
ऋतुओं की राहों में,
टहनी की सूखी छाँवों में,
बिखरे शब्दों के
गाँव में,
दूधिया छलकती
छाँव में,
तुम मुझे फिर
छू जाना!
तुम फिर आना!!···

□□□